शोध मंथन Vol. XI No.III July-Sept. 2020 ISSN: (P) 0976-5255 (e) 2454-339X
Impact Factor 7.760 (SJIF)

मानव जीवन में शिक्षा और संस्कृति की भूमिका

सुजल पाल
एम.एड., नेट, शिक्षा शास्त्र

डॉ0 मिली पाल
एम.ए., पीएच.डी.
Email: milipal5151@yahoo.com

सारांश

शिक्षा और संस्कृति का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जहाँ संस्कृति द्वारा समाज का परिमार्जन होता है वहीं शिक्षा के प्रकाश में संस्कृति की महनीयता और अधिक पुष्ट एवं महत्वपूर्ण हो जाती है। यहाँ यह बता देना उचित होगा कि राष्ट्रीय–संस्कृति के उत्थान में शिक्षा गति का कार्य करती है और सामाजिक व्यक्तियों में निहित अन्तसांस्कृतिक भावना की वृद्धि में अन्तसांस्कृतिक शिक्षा की भूमिका आवश्यक प्रतीत होती है। जैसे–जैसे व्यवस्थाएँ बदलती हैं वैसे–वैसे उसके आन्तरिक कलेवर में भी परिवर्तन होता है। जैसे– राजतन्त्र, कृषि व्यवस्था, सामन्ती व्यवस्था, यान्त्रिक व्यवस्था आदि की दशाओं मे परिवर्तन या परिवर्धन। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि बाहरी और भीतरी बदलाव हमारी संस्कृति पर गहरा प्रभाव डालते हैं, जिसकी प्रेरणा से प्रभावित होकर परिवर्तन का अभ्युदय होता है, जो बाद में इतिहास सम्मत हो जाते हैं।

यहाँ पर यह कहना अलम न होगा कि व्यवस्थाएँ समय के साथ–साथ अपने अनुकूल एक नवीन संस्कृति का सृजन करती हैं, जिनकी अपनी संस्कृति होती है। 'सत्यम्', 'शिवम्', 'सुन्दरम', जैसे विषय किसी न किसी अनुपात में सजग, ज्ञानशील मानव की प्रेरणा और आदर्श होते हैं। किसी भी चेतनाशील मानव सभ्य–समाज का उदय एवं विकास तभी हो सकता है जब उसमें सत्यता सुचेयत्ता, मंगलकारिता और सुन्दरता के प्रति समपर्णभाव हो और आचरणशील आदर्शों के पथ का अनुगम करने की आकांक्षा हो। संस्कृति समाज विशेष के चिन्तन और अनुभावन से प्रभावित तथा क्रिया–कलापों में प्रतिबिम्बित एव प्रतिष्ठापित होती है।

प्रस्तावना

संस्कृति जनसम्पर्क, उपदेश, व्याख्यान और शिक्षण–प्रशिक्षण, गीत–गायन, लोक साहित्य आदि क्षेत्रों में उपयोगी बनी रहती है। संस्कृति के विधिवृत्त एवं उसके उपयोगी प्रतिष्ठान, क्रिया–कलापों, वाद–संवादों आदि में किसी न किसी तरह संसचूना एवं आदान–प्रदन के व्यावहारिक माध्यम रहे हैं, वह तद्नुकूल एक प्रेरणा समाज ही नहीं, सूचना एवं संसूचना के समाज को भी दिशा–निर्देश देती रहती हैं यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि संस्कृति स्वयं के लिए भले ही यान्त्रिक संसाधनों एवं संघटकों का निर्माण न करें फिर भी उसकी उपस्थिति तथा सहभागिता प्रत्येक क्षेत्र हेतु अपरिहार्य है। आज के बदलते परिवेश में जहाँ आधुनिकता और

उत्तर आधुनिकता के प्रभाव से समाज पूर्णतः प्रभावित है, यही नहीं आज जहाँ मानवीय विचाराधाराओं को दरकिनार करते हुए मानव वस्तु–स्थिति एवं यथार्थ से विमुख होता जा रहा है। इसके कारण हैं, 'संचार–माध्यक'। आज के लोग सत्य और यथार्थ वही मानते हैं जो संचार माध्यम से हमें श्रव्य एवं दृश्य रूप में परोसा जा रहा है। यदि हम परम्परागत अध्ययन करें तो ज्ञात होता है कि साधन और साध्य के मध्य का ग्राफ कभी स्थिर नहीं रहता, वह कभी बढ़ता है तो कभी घटता है। आधुनिकता के बढ़ते प्रभाव में हमारी संस्कृति और उसका मूल तत्व तीव्रता से घट रहा है। हमारी मानवीय संवेदनाओं का तीव्रता से क्षरण हो रहा है।

संस्कृति के सन्दर्भ में पाश्चात्य मनीषियों ने स्वीकार किया है कि संस्कृति का प्रादुर्भाव तब से है, जबसे मानव धरती पर आया, अर्थात, आदिम मानव के प्रादुर्भाव के साथ ही संस्कृति का जन्म हुआ। प्रसिद्ध विद्वान 'नूम' ने माना है कि ''संस्कृति अद्‌भुत भावों का संगठन (ऑर्गनाइजेशन) है।'' उन्होनें उसे अद्‌भुत भावों की जुड़ती हुई पद्धति के रूप में स्वीकार किया है। संस्कृति में आवष्यकता पूर्ति का गुण विद्यमान होता है। इसमें प्रतिमान व्यक्ति की किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति करने हेतु तत्पर दिखायी पड़ता है। भले ही संस्कृति का कोई अंग बेकार प्रतीत होने लगे फिर भी सांस्कृतिक संरचना में प्रत्येक संघटकों का कुछ न कुछ महत्व अवश्य होता है। जैसे– मानव शरीर में अंग प्रत्यंग का अपना महत्व है ठीक उसी प्रकार संस्कृति का कोई भी तत्व 'संस्कृति' के ढाँचे से महत्वहीन नहीं है, अर्थात् सबकी अहम् भूमिका है।

'मैलिनोवस्की' का कथन है कि, संस्कृति की विभिन्न इकाइयों का अलग– अलग अस्तित्व नहीं होता है और नहीं होना सम्भव है। इनमें से प्रत्येक का प्रत्येक के साथ प्रकार्यात्मक सम्बन्ध होता है। संस्कृति के संठन के उद्‌देश्य मनुष्य की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कार्य करते हैं, जीवन–व्यवस्था को बनाये रखने में प्रत्येक सांस्कृतिक तत्व का किसी न किसी भाँति योगदान निश्चित होता है। यही कारण है कि संस्कृति के समग्र तत्वों का एक–दूसरे के साथ आन्तरिक सम्बन्ध होता है जो एक–दूसरे से संयुक्त बने रहते हैं।

प्राचीन भारतीय समाज के भौतिक क्षेत्र में उन्नति करने वालों ने जितनी श्रेष्ठता एवं महनीयता प्राप्त की थी उतना प्रभावी स्थान राजनैतिक विजेता, योद्धा तथा धनी एवं बड़े–बड़े सम्राटों को नहीं प्राप्त थी। सन्त, महात्मा एवं ऋषि मुनियों का प्राचीन भारतीय समाज में विशेष सम्मान था। जन–सामान्य ही नहीं बल्कि बड़े–बड़े सम्राटों द्वारा उनका सम्मान होता था। ऐसे महात्मा भौतिक एवं सुख–सौख्य या भोग–विलास से दूर रहते थे। समय–समय पर समाज को नयी दिशा देना उनका धर्म था। ऐसे महापुरूशों ने न यश न ही अधिकार एवं गौरव की अपेक्षा की, उन्हें अनुरोग था तो समाज की सेवा में, सत्य एवं धर्म की स्थापना में, वे मानव की सेवा–सुश्रुषा एवं कदर्थित जीवन उत्थान के प्रति सचेत बने रहें। इनमें कबीर, गुरूनानक, तुलसीदास, रामदास, स्वामी दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द आदि प्रमुख थे, जिन्होनें परिस्थितिजन्य भारतीय संस्कृत को एक नवीन दिशा प्रदान की।

भारतीय संस्कृति की अपनी अलग पहचान है। इसकी महत्ता को तो समग्र विश्व स्वीकार करता है और अपनाना चाहता है किन्तु वर्तमान भारतीय समाज के नवीन पीढ़ी के लोगों

में पाश्चात्य सभ्यता को बेढंगा नृत्य और उसके प्रति खिचाव एवं अपनाने और उसमें रचने–बसने का शौक दिखायी पड़ने लगता है। मूलतः यह दुःख का विषय है कि आज हम अपने नैतिक दायित्वों से पलायन करने लगे हैं। सत्य की वास्तविकता से दूर भागने लग हैं। कबीर, तुलसी और स्वामी विवेकानन्द आदि के आदर्श हमें जल्दी भूल गये, उनकी समर्थ वाणी ने हमें ऐसे समय में उठाया जगाया है, जब हमारी अन्तः चेतना बेजान और विचारहीन हो रही थी। उन मनीषियों का जीवनादर्श, लोक कल्याणार्थ था। वैयक्तिक स्वार्थ–त्याग, सत्य–अहिंसा, तप, त्याग तथा संयम आदि माध्यात्मिक मूल्यों स परिपूर्ण था। ईश्वरी न्याय पर विश्वास एवं परलोक के निर्माण के चिन्ता आदि तत्कालीन विचारकों–चिन्तकों के मूल में जीव्यमान रही, यही कारण है कि आज हमारी संस्कृति जीवन की ऐश्वर्यामयी सभ्यता की यकाचौंध में भी अपने आपको कभी खोया नहीं। साथ ही साथ उसकी आध्यात्मिकता ने अर्थ को भारतीय जीवन का सर्वे–सर्वा नहीं बनने दिया तथा काम को अपनी मर्यादा से बहुत आगे नहीं बढ़ने दिया।''

हमारे पूर्वज सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक ज्ञाता थे, जिन्होनें सामाजिक सिद्धान्तों पर आधारित जिस जीवन पद्धति का विधान किया है, उसे प्राचीन भारतीय साहित्य में 'वर्ण–व्यवस्था' की संज्ञा प्राप्त है। उन्होनें समाज को विभक्त करते हुए प्रत्येक के कर्तव्य कर्मों का भी निर्देश किया था, समग्र भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु मानव कोई भी व्यवसाय करने हेतु विवश है और वह कभी–कभी रूचि के विपरीत भी व्यवसाय कर लेता है। उसकी एकमात्र इच्छा आत्मनिर्भर होने की होती है। इस सन्दर्भ में प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान एवं विचारक 'लिन्डसे' का विचार है कि, 'मनुष्यों में पायी जाने वाली समाज आवश्यकताओं की पूर्ति भिन्न क्षमताओं और योग्यताओं से होती है। अतः समाज की अवस्थिति श्रम के विभाजन पर ही आधारित है जो कि मानव प्रकृति की अभिव्यक्ति है, यह किसी कानूनी व्यवस्था का परिणाम नहीं है।''

हम जैसा कार्य करते हैं उसी तरह के वर्ग मे रहना भी चाहते हैं। जैसे– अध्यापक, अध्यापक के और डॉक्टर के, हम कार्य के अनुसार वर्गों की पंक्ति में सम्मिलित होते हैं। विदेशों में भी अध्यापक, साहित्कार, किसान, डॉक्टर, इन्जीनियर, व्यापारी और मजदूर सभी का अपना–अपना वर्ग होता है। बुद्धिजीवी मानव प्रवृति के आधार पर वस्तुतः मानव कार्य–व्यवस्था का चार भागों में ही बाँटा जा सकता है।

1. बुद्धिजीवी समग्र ज्ञान वाला
2. देश या समाज को चलाने या शासन करने वाला
3. औद्योगिक या व्यावसायिक क्षेत्र में कार्य करने वाला
4. शारीरिक श्रम करने वाला 'श्रमिक वर्ग'।

सामाजिक कार्य विभाजन की प्राचीन व्यवसाी आज भी ज्यों की त्यों है। विशिष्ट पदों पर बैठे अधिकारी सलाह देने वाला बुद्धिजीवी की श्रेणी में आते हैं और नेता तथा देश को चलाने वाले दूसरे तथा उद्योग कलकारखानों के मालिक या व्यावसायिक तीसरे और श्रमिक काम करने वाल चतुर्थ वर्ग में, आज भी किसी विभाग को चलाने के लिए प्रथम से लेकर चतुर्थ श्रेणी तक के कर्मचारियों का चयन होता है।

मूलतः प्राचीन दृष्टाओं ने गुण और कर्म के अनुसार सामाजिक विभाजन किया था 'गुण और कर्म' के सन्दर्भ में भागवत् गीता में भी कहा गया है– 'गुण कर्म विभागाशः।'' इस प्रकार चतुर्वर्गों के निर्माण को जो निर्देश किया गया है, उनके अनुसार– रूचि, योग्यता तथा क्षमता–गुण के वैयक्तिक विचार तथा सामाजिक उत्तरदायित्वों का पालन करने का सिद्धान्त ही मूलतः सामाजिक व्यवस्था के आधार है।

प्राचीन भारतीय सामाजिक संरचना भारतीय समाज के मूल नियमों की परिधि में आबद्ध थी। डॉ0 राधाकमल मुखर्जी के अनुसार, 'महत्वपूर्ण व्यवस्था के योगदान से वंचित रहे सामाजिक वर्गों के नियोजन में श्रम विभाजन तक ही सीमित रह सके।''

उपर्युक्त विवेचनों से भारतीय जीवन–दर्शन में 'संस्कृति' की महत्ता की बात स्पष्ट हो जाती है। प्राचीन जीवन दर्शन से वर्तमान जीवन दर्शन को भी मैंने जोड़ने का प्रयास किया है। सत्य तो यह है कि प्राचीन भारतीय दर्शन अध्यात्मक से रिपूर्ण था। आध्यात्मिक शक्ति से सम्पन्न दृष्टाओं और चिन्तकों ने समाज को एक नवीन दिशा प्रदान की, जिससे यह देश आर्थिक दृष्टि से अधिक सम्पन्न हो सका था।

सन्दर्भ ग्रंथ

1. *'द नेचर ऑफ कल्चर'* : ए0एल0 क्रोबर : दि यूनिवर्सिटी ऑफ षिकागो, 1952, अध्याय–3, संस्करण, 1971।
2. ogh] [kM&15] i0&160
3. *रिवोल्यूशनरी चेन्जेज,* पृ0–**134**
4. भारतीय सभ्यता का विश्लेषण : कमाल मोतवानी, भाग–2, पृ0–**174**
5. फाउण्डेशन इण्डियन कल्चर, पृं0–**175**
6. *'भारत में विवेकानन्दर'* शिकागो व्याख्यान, पृ0 **16–17**
7. *श्रीरामचरिमानस:* गोस्वामी तुलसीदास
8. *स्प्राइट ऑफ इण्डियन कल्चर* : डॉ0 वी0एल0 अप्रेया, पृ0–**46**
9. *श्रीमद्भवगद्गीता :* अध्याय–4, श्लोक संख्या–3
10. *धर्म और समाज* : डॉ0 राधाकृष्णन, द्वितीय संस्करण, पृ0–**122**
11. *सांस्कृतिक भारत* : डॉ0 भगवतशरण उपाध्याय : संस्कृति का स्वरूप, शीर्षक, पृ0–**11**